© INTERNATIONAL JOURNAL FOR RESEARCH PUBLICATION & SEMINAR
ISSN: 2278-6848 | Volume: 08 Issue: 07 | July - September 2017
Paper is available at www.jrps.in | Email : info@jrps.in

समाज में स्त्री: संस्थाएँ, मान्यताएँ और मूल्य, परम्परा और नई चेतना का द्वन्द, स्त्री का राजनीतिक अस्तित्व

Suman Bala "Research scholor OPJS University Churu"

समाज में स्त्री

ISSN : 2278-6848 03
9 772278 684800
© International Journal for Research Publication and Seminar

हजारों वर्षों से पुरूष निर्मित इस समाज में 'नारी' और 'मुक्ति' नदी के दो किनारों की भांति ही रहे हैं, समय की धारा में किसी–किसी मोड़ पर यह एहसास जरूर हुआ, कि वह सामाजिक बंधनों एवम् मिथकों को तोड़कर मुक्त हो जाएगी, लेकिन यह एहसास बिखर गया, मिथक खत्म नहीं हुआ हां इतना अवश्य हुआ कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने समय की मांग की अनुकूल नए मिथक गढ़े, निरंतर जारी इस प्रक्रिया या साजिश को हम भारतीय समाज में नारी की स्थिति का मूल्यांकन करके बखूबी समझ सकते हैं, क्योंकि यही वह देश है, जहां आदिम सभ्यता की धरोहर या अवशेष के रूप में कबीलाई, आदिवासी, बनजारे लोग हैं, (हालांकि 'सुनामी' में कुछ जनजातियों के विलुप्त होने की बात भी समाजशास्त्रियों ने की हैं) तो दूसरी तरफ कम्प्यूटर एवम् तकनीक से प्रभावित आधुनिक और उत्तर–आधुनिक लोग भी हैं, इन दोनों के बीच सबसे अधिक आबादी उन लोगों की है, जो आज भी मध्यकाल के तमाम रूढ़िवादी रीति–रिवाजों को ओढ़े हुए हैं, और तीनों समुदायों में नारी के लिए अलग–अलग मिथक हैं, और हरेक मिथक अपने समुदाय में नारी की स्थिति उसकी पीड़ा व मुक्ति के उसके संघर्ष को दर्शाते हैं।

इन मिथकों के निर्माण के बारे में सीमोन ने लिखा है कि ''प्रत्येक लेखक अपनी–अपनी कलम से स्त्री के बारे में एक महान सामूहिक मिथक की ही रचना कर रहा है ..... पुरूष के सम्मुख वह उर्वरा धरती है, भौतिक सौंदर्य और जगत की आत्मा है ..... कविता है ..... प्रसाद या वेदवाक्य, ध्रुवतारा या जादूगरनी ..... वह अति इंद्रिय का दरवाजा खोलती है ..... शांति और संगतता पुरूष के जीवन में लाती है, तो देवयाणी है, किन्तु आरोपित भूमिका के खिलाफ जाती है, तो बद्धहस्त कीट है, राक्षसी है ''वास्तव में समूचा इतिहास स्त्री पर आरोपित मिथकों एवम् इनके जाल में फंसी स्त्री के विद्रोह की दास्तान है, जो कभी मूक तो कभी मूखर है। मिथकों की इस श्रृंखला में एक नया मिथक ''सौन्दर्य'' है जिसके गिरफ्त में स्त्रियां फंसती जा रही है। बहुत ही कम स्त्रियों को इस बात का एहसास है कि स्त्री–मुक्ति एवम् स्त्री–सौन्दर्य के बीच एक गहरा विरोधी रिश्ता है, जिसकी वजह से स्त्री–मुक्ति – आंदोलन आज कमजोर पड़ रहा है, आज की स्त्री (शहरी क्षेत्रों) की विशेषकर अपनी देह मात्र में सिमट गयी है, उसे लगता है कि उसका शरीर सामाजिक और धार्मिक बंधनों से मुक्त है और वह आजाद है। वह अपनी देह की मल्लिका है, लेकिन वह यह भूल गयी है कि देह का मालिक तो वह होता है, जिसका मस्तिष्क पर नियंत्रण हो।

हजारों बिलियन डॉलर की 'डाइटिंग इंडस्ट्री', 'कास्मेटिक इंडस्ट्री' से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि, आज की शहरी और अद्धशहरी शिक्षित और अशिक्षित स्त्रियों की अधिकांश आबादी किस तरह इस सौन्दर्य मिथक से घिरी है, इनकी स्थिति मध्ययुगीन स्त्री की तरह ही है (फर्क सिर्फ इतना है कि) मध्ययुग की स्त्री 'शासन', 'धर्म', एवम् मर्यादा के नाम पर 'ठगी' जाती थी आज की स्त्री ''सौंदर्य'' के 'नए धर्म' के नाम पर 'षडयंत्र' का शिकार हो रही है। हर वर्ग की स्त्रियों ने सौंदर्य, की गुलामी को अपने सामर्थ्य और सीमा के अनुरूप स्वेच्छा से अपनाया है।

1950 के बाद भारतीय समाज (विशेषकर) शहरी मध्यवर्ग में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और पारिवारिक स्तर पर संवैधानिक कानून, शिक्षा और जनचेतना के कारण व्यक्तिगत संबंधों और परम्परागत विवाह संस्था के स्वरूप–स्वभाव और स्थितियों में निरंतर परिवर्तन हुआ है शहरीकरण, औद्योगिकरण और आर्थिक दबावों की वजह से संयुक्त परिवारों के टूटने–बिखरने की सामाजिक और ऐतिहासिक प्रक्रिया' पहले से अधिक तेज हुई है, और ''छोटा परिवार सुख'' आधार माना जाने लगा है। शिक्षित स्त्रियां घर से बाहर नौकरी या अन्य काम–धंधों में लग कर परिवार के आर्थिक बोझ को समान रूप से ढो रही है, बढ़ती महंगाई और परिवारिक जरूरतों ने उन्हें बाहर काम करने को मजबूर किया है आर्थिक स्वतन्त्रता और व्यक्तित्व विकास की चेतना तो उनमें बहुत बाद आयी है। तीव्र गति से परिवर्तित हो रहे भारतीय समाज में धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक, नैतिक, मर्यादा और बंधनों का शिथिल होना स्वभाविक है, और एक हद त कवे बदले भी है, अब परिवार की ''प्रतिष्ठा के प्रश्न'' व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और अधिकारों के सामने बौने हो गए हैं, परिणामस्वरूप मध्यवर्गीय एकल परिवारों में पति–पत्नी के बीच तनाव और एक दूसरे से मुक्त होने की इच्छा, आकांक्षा या विवशता कोर्ट कचहरी को भी दस्तक देने लगी है। अब परिवारिक मर्यादा के नाम पर स्त्री अपने को होम नहीं कर रही है, और न ही 'तलाक' को ही चुपचाप स्वीकार कर रही है मुस्लिम समाजों की स्त्रियों ने भी शाहबानों को प्रेरणा मानकर 'तलाक' के खिलाफ जिहाद छेड़ दिया है। अदालत में लगातार

© INTERNATIONAL JOURNAL FOR RESEARCH PUBLICATION & SEMINAR
ISSN: 2278-6848 | Volume: 08 Issue: 07 | July - September 2017
Paper is available at www.jrps.in | Email : info@jrps.in

बढ़ते तलाक, गुजाराभत्ता, बच्चों का संरक्षण दहेज, स्त्रीधन और मानसिक यातना जैसे मुद्दों से संबंधित मुकदमों की संख्या लगातार बढ़ रही है, जो भारतीय परिवार और विवाह–संस्था की वर्तमान स्थिति का ही ब्यान करते हैं।

परिवार

वृद्ध रोग बस, जड़ धनहीना।
अंध, बधिर क्रोधी, अति दीना।।
ऐसेहू पति का कर अपमाना।
नारि पाण यमपुर दुख नाना।।

तुलसीदास द्वारा बनाई गई नैतिकता आज भी केवल निरक्षर जसाधारण का ही नहीं, वरन् भद्र शिक्षित समुदाय के विश्वास का भी अंग है। और इस नैतिकता को नया खाद–पानी देने के लि ''परिवार'' जैसी संस्थाओं के अलावा हमारी शिक्षा व्यवस्था है, और प्रचार साधनों का व्यापक जाल है। सारे 'सिरियल' और सामाजिक फिल्में सुशील, आज्ञाकारी कमाउ बहू, बेटी, और पत्नी की ही छवि को प्रचारित प्रसारित करते है, इक्कीसवीं सदी में भी ''स्त्री शिक्षा'' जैसी किताबें गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित होती है, जो स्त्री को गृहस्थी के क्रिया कलापों के अलावा पति को परमेश्वर मानने का आग्रह करती है। यह जानकर आश्चर्य होगा कि आज के युग में भी स्त्री को सती–सावित्री बनने को प्रेरित करती इन पुस्तकों की मध्यमवर्गीय समाज में बड़ी खपत है, जो स्त्रियों को 'स्त्रीधर्म' 'पति सेवा' का ही पाठ नहीं पढ़ाती वरन् ऐसा नहीं करने पर वह महापाप की भोगी होगी इसकी भी सूचना देती है, और पापों के निवारण और सुख–शांति हेतु कौन–कौन से व्रत त्योहार स्त्रियों द्वारा किया जाय, इस बात की भी सूचना गीता प्रेस के नारी–धर्म व्रत त्योहार जैसी पुस्तकों में उपलब्ध है। वो नारी संगठन जो स्त्रियों को पितृसत्तात्मक बंधनों से मुक्त कराना चाहते हैं अप्रासंगिक प्रथाओं और परम्पराओं की खत्म कराना चाहते हैं, उन्हें इस बात की खबर तक नहीं है कि, गीता प्रेस की इन पुस्तकों का कितनी बड़ी संख्या में आज भी प्रकाशन और वितरण हो रहा है जो, स्त्री की सती, सावित्री की छवि को ही पुख्ता बनाने में सहायता कर रहे हैं आज के आत्मनिर्भरता मानवीय गरिमा, और अस्मिता की जद्दोजहद में युग में स्त्रियों को ऐसी कुशिक्षा का प्रचार करती पुस्तकों के प्रकाशन और वितरण पर रोक लगाने की किसी, 'महिला संगठन या राष्ट्रीय महिला आयोग ने कोई पहल नहीं की है ''पतिव्रत'' धर्म की दुहाई देकर स्त्रियों के प्रति परिवार ने होने वाले भीषतम अत्याचारों को भी यह पुस्तकों न्यायसंगत ठहराती है। आज भी राजस्थान में सैंकड़ों सती मंदिर हैं, और हर वर्ष इनमें मेला लगता है। अब तक इस पर कोई पाबंदी नहीं लग पाई है शासन व्यवस्था भी नाकामयाब रही है।

भारतीय परिवार का पितृसत्तात्मक ढांचा, स्त्रियों की दीन दशा का कुछ हद तक उत्तरदायी है, यहां परिवार जनतांत्रिक आधारों पर नहीं बल्कि पिता–पुरूष मुखिया की निरंकुश सत्ता पर आधात होता है, इसी निरंकुश सत्ता का दूसरा पहलू स्त्रियों की घरेलू दासता भी है, ये दोनों आवयविक रूप से जुड़े हैं परिवार में पिता का निर्णय अंतिम होता है, परिवार के सभी सदस्य अपने अपने अच्छे–बुरे कामों के लिए उसी के प्रति उत्तरदायी होते हैं, परिवार के सभी अहम् फैसले शिक्षा, विवाह, सम्पत्ति आदि से संबंधित निर्णय सिर्फ पति का होता है पत्नी को न तो इसमें दखल देने का अधिकार्द है, और न ही उसकी इच्छा अनिच्छा को कोई अहमियत दी जाती है। आज भी परिवार में मुखिया की हैसियत पिता की ही है, चाहे माँ भी समान या उससे अधिक ही अर्थोपार्जन क्यों न करती हो, और जिस घर में स्त्रियां पुरुषों पर निर्भर होती है, वहां तो उनका जीवन दासों से कम नहीं होता।

दिलचस्प बात तो यह है कि पितृसत्तात्मक परिवार में संबंधें की भी ऊँची–नीची श्रेणियां है, जैसे पितृ पक्ष दादा, दादी, चाचा, ताऊ, बुआ आदि को स्त्री पक्ष को नाना–नानी, मामा, मौसी की तुलना में कम अधिकार प्राप्त होता है, 'बहु' परिवार में अक्सर पितृ पक्ष के संबंधियों द्वारा शोषित होती है, विडम्बना यह है कि सास, ननद, जेठानी आदि एक स्तर पर स्वयं 'बहू' होती है, उत्पीड़न झेलती है, परन्तु दूसरे स्तर पर पितृसत्ता की प्रतिनिधि रूप में 'बहू' को उत्पीड़ित करती है, यही वजह है कि इस तरह एक स्त्री ही दूसरे की शोषक बन जाती है, परन्तु इस बात को शोषक स्त्री जान भी नहीं पाती कि किस तरह व पितृसत्ता का मोहरा बन एक स्त्री के खिलाफ ही काम करने लगती है। दोनों ही स्थितियां पितृसत्ता की नैतिकता की दृष्टि से उचित मानी जाती है, उसके हित में होती है, इसलिए यह बताने का प्रयास भी नहीं किया जाता कि एक स्त्री का दूसरी स्त्री के प्रति यह व्यवहार अमानवीय है।

विवाह–

आज भी अधिकांश भारतीय परिवारों में बच्चे 'पिता की संपत्ति' के रूप में ही माने जाते हैं, जिसके वर्तमान और भविष्य का हर फैसला पिता का होता है। आज भी समाज में विवाह मध्ययुगीन तरीके से बिचौलिये की मदद से जात, गौत्र आदि के निरीक्षण और सर्वोपरि दहेज की संभावनाओं आदि को देखकर तय किया जाता है। जब शिक्षित और आत्मनिर्भर 'लड़का' भी विवाह के लिए पिता पर आश्रित होता है, तो अर्द्धशिक्षित, परतंत्र लड़कियों की क्या मजाल की वह 'विवाह' के बारे में अपनी इच्छा अनिच्छा जाहिर करे। यदि किसी ने अपवाद स्वरूप विद्रोह कर भी दिया, पिता के फैसले के खिलाफ तो, पिता द्वरा प्रेमी की हत्या या धोखे तक का षड़यंत्र फिल्मी

© INTERNATIONAL JOURNAL FOR RESEARCH PUBLICATION & SEMINAR
ISSN: 2278-6848 | Volume: 08 Issue: 07 | July - September 2017
Paper is available at www.jrps.in | Email : info@jrps.in

कहानियों की तरह रचाया जाता है, दरअसल इस ढाँचे में विवाह का आधार पूर्णतः आर्थिक स्वार्थ होता है, दोनों पक्षों की आर्थिक हैसियत विवाह के लिए निर्णायक भूमिका निभाती है लड़की वाला, लड़कें की तनख्वाह, और पुश्तैनी जायदाद को ध्यान में रखता है, तो लड़के वालों की नजर मिलने वाली रकम की संख्या पर टिकी रहती है इन परिस्थितियों में लड़के के लिए उसकी होने वाली पत्नी सिर्फ एक 'लड़की' होती है, दोनों में बीच न कोई वास्तविक प्रेम होता है न एक दूसरे के लिए सम्मान और विवाहोपरांत यत्रवत दोनों अपनी अपनी निर्धारित भूमिका निभाने लगते हैं। कभी कभी असमान सामाजिक हैसियत और भूमिका दोनों के बीच अलगांव और कटुता को भी बढ़ाता है ऐसे में स्त्री और पुरूष दोनों का जीवन प्रभावित होता है, परन्तु निरंकुश पितृसत्ता का स्वामी पुरूष–पत्नी के साथ क्रूरता पर उतर सकता है, और स्त्री सब कुछ सहने को अभिशप्त होती है यदि, (उसके पास अन्य विकल्प नहीं है यह विकल्प शिक्षा और आर्थिक आजादी से संभव हो सकता है) परन्तु समाज और परिवार बार–बार स्त्री से पति की ही बात मानने का आग्रही होता है समाज एक तलाक शुदा औरत को या स्वतन्त्र आत्मनिर्भर स्त्री को शक की निगाह से देखता है। हमेशा सुलह की पहल स्त्री से हो, इसकी ही आकांक्षा की जाती है, क्योंकि आत्मसम्मान और अहम् तो सिर्फ पुरूषों का आहत् होता है।

मान्यताएं और मूल्य –

सामाजिक सृष्टि की पहली कड़ी परिवार है, जिसका ताना बाना कुछ बुनियादी मूल्यों से बना है ''मूल्य'' किसी समाज अथवा समूह के सदस्यों द्वारा सामूहिक तौर पर स्वीकार किए गये अमूर्त पैमाने या उपायों को कहते हैं, जिनसे वस्तु, व्यक्ति या विचारों का मूल्यांकन किया जाता है ''मूल्य'' तर्कपूर्ण नहीं होते, और ना ही वस्तुनिष्ठ ढंग से चीजों का मूल्यांकन करते हैं, यह तो समाज द्वारा स्वीकृत, पसंद या नापसंद के पैमाने पर निर्भर करता है।

अन्य सामाजिक और सांस्कृतिक तत्वों के समान ही मूल्यों में समय, क्षेत्र, वर्ग, जाति, स्थान, परिवेश समय और आर्थिक गतिविधियों के आधार पर भिन्नता पाई जाती है परन्तु व्यापक संस्कृति के पैमाने पर कुछ मूल्य समान होते हैं, जिसे सभी किसी न किसी अंश में स्वीकार करते हैं। जैसे में भारत में स्त्रियों की सती–सावित्री नम्रता और सहनशीलता की मूर्ति का स्वरूप ही स्वीकृत है उनका दबंग और विद्रोही स्वरूप भारत के सभी क्षेत्रों और जातियों में पसंद नहीं किया जाता है यद्यपि मूल्यों के भंग करने पर कोई दंड नहीं मिलता परन्तु समूह या समाज इस मूल्यहीनता को स्वीकार नहीं करता है इससे प्रतिष्ठा में ह्रास होता है, और उसका सामाजिक संबंधों पर असर पड़ता है। परिवार का ताना बाना कुछ बनियादी मूल्यों पर आघ्रत है, दरअसल पारिवारिक अंतःरचना और हमारे मूल्य इस तरह जुड़े है कि एक में परिवर्तन की कामना करें और दूसरे को यथावत रखने की सोचें तो ऐसा संभव नहीं है अतः मूल्यों के परिवर्तन में स्थायित्व तभी आ सकता है जब इसके आलंबन अर्थात् पारिवारिक ढांचे में कुछ अनुकूल परिवर्तन किए जाऐं।

भारतीय समाज मूल्यों को संदर्भ में परिवर्तनशील नहीं है, जिनकी वजह से आधुनिकता के साथ अपनी परंपरा का सामंजस्य करने में हम विफल होते हैं हमारे समाज में अंतर्वैयक्तिक संबंधों का ताना बाना इतना सघन है कि यह हमें वस्तुपरक नहीं होने देते, और विविध खोखले नैतिक बंधनों में बांधते हैं। कृत्रिम मूल्यों के प्रति अनावश्यक मोह तार्किकता को समाप्त करने में हम निषक्रिय है समाज का यह नैतिक बंधन ही है कि वह स्त्रियों को सती होने के पहले इससे अलग कुछ और सोचने की मोहलत नहीं देता था। नैतिक बंधनो का संबंध सीधे सत्ता से होता, नैतिकता तभी कायम रह सकती है, जब सामाजिक शक्तियां उसे उचित सुरक्षा प्रदान करें, उचित रूप से पुरस्कृत होने की लालसा तथा सामाजिक तिरस्कार के भय से ही हम नैतिक बंधनों से आगे अपना जीवन उत्सर्ग कर देते हैं, इस प्रकार राजनैतिक एवम् न्यायिक व्यवस्था और मूल्यों में अन्योन्याश्रय संबंध है, मूल्यों की हिफाजत के लिए सत्ता चाहिए और सत्ता तभी कायम रह सकती है, जब उसे अपने अनुरूप मूल्यों औ आदर्शों का समर्थन प्राप्त हो, जहां नैतिक बंधन, मूल्य और आदर्श सामाजिक शक्तियां तय करें, वहां सामाजिक वर्गीकरण अवश्य भावी है।

सामन्यतः मूल्यों और आर्दशों को सकारात्मक रूप से देखने की परम्परा रही है, परन्तु हमारे जीवन पर इनका प्रतिकूल प्रभाव ही पड़ता हैं, ऐसा हम सोच भी नहीं पाते हैं, यह हमारा अंतःर्विरोध है कि मूल्यों और आदर्शों के बिना समाज के प्रति प्रतिबद्धता नहीं आती एवम् समाज व्यवस्थित नहीं हो पाता तथा दूसरी ओर अपनी निरन्तरता में मूल्यबोध अनेक प्रकार की विशमताएं उत्पन्न करते हैं।

प्राचीनकाल से लेकर आज तक यौन संबंधों के नियमन में जितनी सतर्कता और चिंता जताई गयी है, उतना किसी और कार्य में नहीं अभद्र दैहिक शिष्टाचार, सेक्सुअल ईर्ष्या और यौन कुंठाए स्त्री–पुरूष के जीवन–संबंधों को प्रारंभ से ही विकृत करते रहे हैं, स्त्रियां कालक्रम में अगर घरों की चाहरदीवारी, में कैद हुई, तथा आर्थिक गतिविधियों में शरीक होने से वंचित रह गयी, तो यह मूलतः योनि–शुचिता तथा शरीर और नस्ल की शुद्धता के बोझिल मूल्यबोध का ही परिणाम है। यौन शुद्धता के भाव से यौन–असुरक्षा और तमाम नैतिक आतंक उपजते हैं, इन्हीं कारणों से आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में स्कूल कॉलेजों में लड़कियों को नहीं भेजा जाता, ऐसा भी नहीं है कि जो लड़कियां घरों से बाहर जाती है वे अपवित्र होकर ही लौटतीं हैं।

इतिहास साक्षी है कि जब समाज में कठोर नैतिक बंधन था और औरते घरों में रहती थीं तो भी वे यौन संबंधों के मामले में पवित्र नहीं बनीं रहती थी। सर्वमान्य है कि यौन इच्छायें और स्त्री – पुरूष के सहज यौन संबंधों में नैतिकता थोपने से ही अनैतिक,

© INTERNATIONAL JOURNAL FOR RESEARCH PUBLICATION & SEMINAR
ISSN: 2278-6848 | Volume: 08 Issue: 07 | July - September 2017
Paper is available at www.jrps.in | Email : info@jrps.in

गोपनीय, रहस्यमय और अपराधिक आचरण के लिए पृष्ठ भूमि तैयार होती है, यौन संबंधों को शंका एवम् ईर्ष्या भाव से मुक्त करने या इसस इतर स्त्री अस्मिता के लिए कोई और सुरक्षित सोच नहीं है, और ना ही इसके बिना स्त्री–पुरूष संबंध स्वस्थकर हो सकते हैं।

परम्परा और नई चेतना की द्वंद्व –

आज इक्कीसवीं सदी में भारतीय स्त्री गहरे अर्न्तद्वन्द का शिकार है परम्परा और नई वैज्ञानिक चेतना दोनों एक नहीं होने वाले, पुल के दो किनारे हैं, और इसके बीचों–बीच खड़ी है, आज की स्त्री, जो बेहद दुविधा ग्रस्त है, जहां वैज्ञानिक सभ्यता की चकाचौंध, आधुनिक रफ्तार भरी जिंदगी उसे उन्मुक्त जीवन जीने को प्रेरित करती है, वहीं मन में गहरे धंसी संस्कारों और परम्परा की जंजीर उसे उनमुक्त विचरण रहने से सदैव रोकती है, हर पग मन ही मन टोकती है, और दुविधा में फंसी नारी न तो पूर्णरूपेण उन्मुक्त रह पाती है, न बंधनयुक्त।

आज की स्त्री आधुनिकीकरण की धारणा, की रोशनी में स्वयम् को पुनः परिभाषित करने की कोशिश कर रही है, क्योंकि आज की स्त्री की पास अपनी स्वतन्त्र राय है जो निःसंदेह परम्परा से भिन्न है, भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्त्री–मुक्ति की प्रक्रिया अन्य देशों की सभ्यताओं से भिन्न रूप में व्यक्त हुई है। भारतीय स्त्री के लिए स्त्री–मुक्ति का अर्थ परम्पराओं से पूर्ण मुक्ति पश्चिमी स्त्रियों की तरह कभी नहीं रहा है, बल्कि आप यह कह सकते हैं, कि अनेक अर्थों में भारतीय स्त्री ने अपने को परम्परागत बनाकर आधुनिकरण की प्रक्रिया में शिरकर किया है।

दरअसल आधुनिक 'स्त्री' सामाजिक अंतर्विरोधों की सृष्टि है, वह 'परिवार' चाहती है, पुरूष का सहारा चाहती हे, साथ ही स्वतन्त्र एवम् स्वायत व्यक्तित्व की पहचान एवम् उसकी स्विकृति भी चाहती है, उसके पास दो अक्स वह है, जिसे वह समाज को दिखाना चाहती है। दूसरा 'अक्स' वह है, जिससे वह पुरूष के आकर्षण का केन्द्र बनना चाहती है, अपनी सामाजिक उन्नति में अपनी छवि को पुरूष को आकर्षित करने का भी स्त्रियों के एक वर्ग ने जरिया बना लिया है मीडिया, विज्ञापन और फिल्मी कैरियर से जुड़ी तमाम स्त्रियां इसकी उदाहरण है। परन्तु इस क्रम में सतह पर वे जितनी मुक्त नजर आती हैं, मन से उतनी ही ज्यादा पुरूष–निर्भर एवम् पुंसवादी होती चली जाती है, मन से पुरूष की निर्भरता के खत्म न होने की वजह से वह अंततः मात खाती जा रही है स्त्री की स्वतन्त्र पहचान, स्वतन्त्र जीवन शैली, स्त्री–संस्कृति के स्वतंत्र रूपों के सृजन एवम् गैर–पुरूष संदर्भों की सृष्टि के लिए पहली शर्त है, ''स्त्री स्वयम् को अलग रूप में देख'', पुरूष से अपनी भिन्नता को पहचाने, स्त्री के रूप में अपने को परिभाषित करे, मां, बहन, पत्नी से पहले व 'स्त्री' है व्यक्ति है इसकी सचेत पहचान जब तक स्त्री को नहीं होगी वह पुंसवादी सत्ता की दासी बनी रहेगी।

स्त्री का राजनीतिक अस्तित्व –

मनुष्य के लिए सबसे महत्वपूर्ण उसकी विश्वदृष्टि एवम् उसका जीवन दृष्टिकोण होता है, उसके बाद राजनैतिक चेतना की बारी आती है वर्तमान में सत्ता के प्रति संशय की दृष्टि रखते हुए भी सत्ता पायदानों की श्रृंखला में ऊँचे से ऊँचेप पायदान को हासिल करने की स्त्रियों में जो ललक दिखाई पड़ती है। वह दरअसल जीवन दृष्टिकोण में परिवर्तन का ही परिणाम है, आधुनिक युग, परतंत्रों और पीड़ितो के उत्थान का युग रहा है, और उनके उत्थान से मानव–समाज के सभी क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है, पर युग की अनेक उपलब्धियों में सबसे मूल्यवान उपलब्धि मनणीय–गरिमा की सार्वभौम स्वीकृति है, इस संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र संघ का 1948 का घोषणापात्र उल्लेखनीय है, जिसने स्त्री–पुरूष, वर्ण देश, जाति, धर्म आदि से परे मानवमात्र की समानता और उसके जन्मजात अधिकारों को वाणी दी, ये अधिकार मनुष्य की राजनीतिक स्वतन्त्रता से लेकन बौद्धिक, शारीरिक और नैतिक विकास फैले हुए हैं। भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्त्री ''शक्ति रूपेण संस्थिता'' है, हमारे यहां मिथकों में भी शक्ति की परिकल्पना स्त्री रूप में ही की गई है, ऐसे में आज अगर देशभर में महिलाएं तरक्की कर ये साबित कर रहीं है कि शक्ति महज धार्मिक अवधारणा नहीं है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है ऐसे क्षेत्र जो कभी पुरूषों के लिए ही आरक्षित माने जाते थे, जैसे फौज, पुलिस, खेल और राजनीति आदि इसमें महिलाएं अपनी सफलता का इतिहास लिख रही हैं, महिला शक्ति की इससे बड़ी मिसाल और क्या होगी कि एक समय देश में पांच महिलाएं मुख्यमन्त्री थीं, आज 'राजनीति' और 'लोकसेवा' में बड़ी संख्या में महिलाएं सक्रिय हैं, गांव हो या महानगर राजनीति में प्रवेश करने वाली महिलाओं की संख्या में निरंतर गुणात्मक वृद्धि को महसूस किया जा सकता है, राजनीति के प्रति उनके रूझान का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि वर्तमान में तीन राज्यों की मुख्यमंत्री महिलाएं है, राजस्थान जैसे पुरूष वर्चस्व और सामंती संस्कार वाले राज्य में मुख्यमन्त्री, राज्यपाल और विधानसभा अध्यक्ष तीनों महिलाएं है इतना ही नहीं पार्षद, सरपंच और महत्वपूर्ण अधिकारिक पदों पर भी स्त्रियों की उपस्थिति है। केन्द्र में सत्तारूढ पार्टी की अध्यक्ष भी एक महिला ही है, आजादी के पूर्व भारत में स्त्रियों की राजनैतिक स्थितियां जो भी रही हों, आजादी के बाद भारतीय संविधान के प्रावधानों में मताधिकार और अन्य राजनैतिक अधिकारों में स्पष्टतः इनके प्रति कोई भेदभाव नहीं रखा गया है, जबकि जनतंत्र के प्रतिनिध यूरोपीय देशों में स्त्रियों को संवैधानिक अधिकार भारतीय स्त्रियों के पश्चात मिला, विकास और आधुनिकता का सिरमौर माने जाने वाले अमेरिका में आज तक कोई महिला राष्ट्रपति नहीं बन पायी है जबकि तीसरी दुनियां के अधिकतर देशों में, महिलाएं राजनीति में सर्वोच्च स्थान पा चुकी हैं, बांग्लादेश और अफ्रिका जैसे विकासशील देशों में आज महिला ही देश की बागडोर

© INTERNATIONAL JOURNAL FOR RESEARCH PUBLICATION & SEMINAR
ISSN: 2278-6848 | Volume: 08 Issue: 07 | July - September 2017
Paper is available at www.jrps.in | Email : info@jrps.in

संभाले हैं। मताधिकार के सिलसिले में भी भारतीय स्त्रियां यूरोपीय स्त्रियों से अधिक भाग्यशाली रही हैं। भारतीय स्त्रियों को सदैव पुरूषों का सहयोग मिला है, चाहे वह घर हो या रणक्षेत्र, भारत में तो नारी–मुक्ति आंदोलन भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में पुरूष–प्रेरित और संचालित रहा है, और आज भी संवेदनशील बुद्धिजीवि मनीषियों का एक वर्ग इसके लिए निरंतर प्रयासरत् है। शायद यही वजह है कि पराधीन व पिछड़े भारत की स्त्रियों ने 'मताधिकार' प्राप्ति की लड़ाई केवल पांच वर्षों में 1917 से 1921 में लड़ी जबकि आजाद और प्रबुद्ध संविधान प्रिय देश इंग्लैण्ड की प्रगतिशील स्त्रियों ने ''सफ्रजिस्ट मूवमेंट'' के तहत (1832 से 1918) 86 वर्षों तक मताधिकार के लिए संघर्ष किया। पश्चिमी स्त्रियों को सालों–साल पुरूषों से लड़कर अपना अधिकार छीनना पड़ा जबकि भारत में स्त्रियों को राजनीतिक अधिकार देने के लिए स्वयम् पुरूषों ने पहल किया, राजाराम मोहन राय, (समाज–सुधारक) और गांधी, नेहरू जैसे राजनीतिज्ञ इसके साक्षात उदाहरण हैं, साहित्य और संस्कृति के अग्रगामी माने जाने वाले, फ्रांस में महिलाओं को मताधिकार 1920 में मिला जबकि वैज्ञानिक प्रगति के धनी अमेरिका की महिलाओं को मताधिकार 1944 में मिला है, आज भी अनेक राष्ट्रों में महिलाएं इस अधिकार से वंचित है, अभी 2005 में हामिदकरजई के नेतृत्व में बनने वाली सरकार के मतदान के दौरान ही 'इराकी महिलाओं' को मताधिकार प्राप्त हुआ है,

उपसंहार

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अक्टूबर क्रान्ति के प्रभाव से पूरी दुनिया में नारी आंदोलन में ध्रुवीकरण की प्रक्रिया तेज हो गई। एक ओर जहां आम उत्पीड़ित नारी समुदाय समाजवाद की विचारधारा, की ओर तेजी से आकृष्ट हुआ, वहीं बुर्जुआ नारी संगठनों ने ज्यादा से ज्यादा खुले तौर पर बुर्जुआ व्यवस्था की हिफाजत का काम शुरू कर दिया, 1920 के दशक में नारी आंदोलन ने सुनिश्चित शक्ल अख्तियार करना शुरू किया और कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की कांग्रेस में मेहनतकश स्त्रियों के बीच कम्युनिस्टों के काम के प्रश्न पर लगातार गंभीरता पूर्वक विचार–विमर्श होता रहा। वहीं दूसरी ओर चीन में कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में जारी–मुक्ति संघर्षों में स्त्रियों की भागीदारी और मुक्त क्षेत्रों में उनकी सामाजिक स्थिति पहले से ही दुनिया भर के पिछड़े देशों की स्त्रियों को आकृष्ट कर रही थी, 1949 में नई जनवादी क्रांति सम्पन्न होने के पश्चात् मध्ययुगीन पितृसत्तात्मक स्वेच्छाचारिता से भरे समाज में, स्त्रियों को पूर्ण बराबरी का कानूनी दर्जा देकर, उसे सामाजिक रूप से वास्तविकता में रूपांतरित करने की पहल करके चीन केसर्वहारा राज्य ने जो ऐतिहासिक कार्य किया था, उसका पूरी दुनियां की मुक्तिकामी स्त्री आंदोलन पर प्रभाव पड़ा। भारत और ऐशिया के अन्य देशों में यद्यपि नारी मुक्ति आंदोलन की शुरूवात उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हो चुकी थी, लेकिन नेतृत्व के समझौतापरस्त चरित्र ने, अन्य क्षेत्रों की भांति ही नारी अधिकार की, जनवादी मूल्यों की लड़ाई व्यापक पैमाने पर क्रांतिकारी रूप से नहीं लड़ी गयी। लम्बे संघर्षों और आंदोलन की निरंतरता के बावजूद भारत, पाकिस्तान, नेपाल, श्रीलंका, इंडोनेशिया, मलेशिया आदि देशों की स्त्रियों ने जो भी सामाजिक राजनीतिक और कानूनी अधिकार आज प्राप्त किये हैं वे नाकाफी है, भारत जैसे विकासशील देशों में बहुसंख्यक किसान, मजदूर जैसी स्त्रियों की गुलामी आज अधिक गहरी, व्यापक, निरंकुश, और संगठित रूप में कायम हो चुकी है, सीमित शिक्षा, जनवादी चेतना और सूचना के बावजूद मजदूर और किसान नारी, बर्बर निरंकुश दासता और मध्ययुगीन पितृसत्तात्मक मूल्यों में आबद्ध है वे भयानक अमानवीय (Segregation) और पूंजीवादी सत्ता की गुलाम है। शहरी क्षेत्रों में फैक्ट्रियों, कल–कारखानों में मजदूर के रूप तो ग्रामीण क्षेत्रों में खेती संबंधी कार्यों में खून–पसीना एक करती किसान के रूप में स्त्रियां आर्थिक शोषण की शिकार है, काम के घंटे पुरूषों से अधिक होने के बावजूद उन्हें कम वेतन मिलता है, घर और बहार दोनों जगहों के उत्तरदायित्व को निभाने के पश्चात भी उनके लिए शारीरिक और मानसिक सुख 'सपना' या 'आकांक्षा' मात्र ही है, इनकी जमीनी हकीकत से अनजान, आज के साहित्यकारों को इनके जीवन में झांकने की इच्छा का अभाव है, भारतीय साहित्य और हिन्दी का तमाम साहित्य इस बात का साक्षी है, जबकि जन आंदोलनों में महिलाओं की महत्वपूर्ण भागीदारी रही है, परन्तु उनका रेखांकन कभी साहित्य की विषयवस्तु नहीं बनी, इन मेहनतकश मजदूर, किसान स्त्रियों में शिक्षा, चेतना और प्रतिनिधित्व की समस्या की वजह से भी साहित्य में इनकी अनुपस्थिति, संभव हुई है, परन्तु हम आशा करते हैं कि जैसे–जैसे शिक्षा की आवश्यकता का विवेक और प्रसार उत्पन्न होगा साहित्य में हाशिए के समाज से भी प्रतिनिधित्व आगे आयेगा और वहीं इनकी व्यथा–कथा का प्रामाणिक दस्तावेज भी होगा, भारतीय भाषाओं और हिन्दी के साहित्य में जब तक बहुसंख्यक हाशिए के समाज की स्त्री, दलित, किसान, आदिवासी और मजदूर वर्ग की स्त्रियों की और उनकी समस्याओं की अनुपस्थिति रहेगी तब तक नारी–मुक्ति का सपना अधुरा रहेगा।

संदर्भ

1. ''सौन्दर्य : मिथक की द्वंदात्मकता'' (लेख), सुधीश, हंस, मार्च 2001 पृष्ठ 103, अक्षर प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली 02।
2. ''रामचरित मानस में वैज्ञानिक तत्व'', विष्णुदत्त शर्मा, पृष्ठ 24, किताब घर, अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली 02।
3. ''महिलाओं की व्रत कथाएं'', डॉ0 इन्दु प्रकाश पाण्डेय, पृष्ठ 65 गीताप्रेस गोरखपुर।
4. ''प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास'' रोमिला थापार पृष्ठ 223, ग्रंथ शिल्पी इंडिया लि. नई दिल्ली 092।
5. ''समाजशास्त्र : समस्याओं और साहित्य का अध्ययन'', टी.बी. बॉटममोर, पृष्ठ 39, ग्रंथ शिल्पी इंडिया लि. नई दिल्ली 092।

© INTERNATIONAL JOURNAL FOR RESEARCH PUBLICATION & SEMINAR
ISSN: 2278-6848 | Volume: 08 Issue: 07 | July - September 2017
Paper is available at www.jrps.in | Email : info@jrps.in

6. ''हमारे जीवन मूल्य'', शंकर दयाल शर्मा, पृष्ठ 76 प्रवीण प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली 30।
7. ''भारतीय इतिहास के अनेक संसार'', (लेख) सुमीत सरकार, पृष्ठ 89 इतिहास बोध, (पत्रिका), अंक मार्च 2003, प्रकाशन, आजाद नगर, इलाहाबाद।
8. ''भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश'', 'रामविलास शर्मा, पृष्ठ 54, किताब घर, अंसारी रोड़, दरियागंज नई दिल्ली 02।
9. ''इंडियन जर्नल ऑफ जेंडर स्टडीज'', जून – दिसम्बर 99, पृष्ठ 4।
10. ''औरत अस्तित्व और अस्मिता'', अरविंद जैन, पृष्ठ 189 सारांश प्रकाशन प्रथम संस्करण, 2000, मयूर विहार दिल्ली–91।
11. ''इंडियन जर्नल ऑफ जेंडर स्टडीज'', जून – दिसम्बर 99, पृष्ठ 54।